ISSN: 2456–5474 RNI No.UPBIL/2016/68367 Vol.-6* Issue-1* February- 2021
Innovation The Research Concept

उत्तराखण्ड की पारिस्थितिक संस्कृति और उपनिवेशवाद

Cultural Ecology of Uttarakhand and Colonialism

Paper Submission: 00/00/2020, Date of Acceptance: 00/00/2020, Date of Publication: 00/00/2020

सुरेन्द्र सिंह बिष्ट
शोध अधिकारी,
इतिहास एवं पुरातत्व विभाग,
हे0 न0 ब0 गढ़वाल
विश्वविद्यालय,
श्रीनगर गढ़वाल,
उत्तराखण्ड, भारत

सारांश

उत्तराखण्ड में सन् 1815 में ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की स्थापना से पूर्व कृषि और पशुपालन पर जीवन-यापन की निर्भरता के फलस्वरूप खेत बनाने, जल, जंगल और चराई क्षेत्रों तक पहुंचने की सुविधा, गाँव की भौगोलिक स्थिति के महत्वपूर्ण व निर्णायक कारकों में से थे। कृषि के तरीके पहाड़ी पर्यावरण के अनुकूल थे। ब्रिटिश काल से पूर्व ग्रामीण अस्थायी खेती, क्वील, कटील (शिफ्ट कल्टिवेशन) मध्य हिमालय, उच्च हिमालय व तराई क्षेत्रों में व्यापक रूप से प्रचलित थी। कृषकों की वनों के ऊपर निर्भरता के चलते पहाड़ी जीवन में वनों के महत्व ने अनेक रूपों में वनों के संरक्षण की एक नैसर्गिक प्रक्रिया को जन्म दिया। यहाँ पर अनेक शिखर स्थानीय देवी–देवताओं को समर्पित थे। इन शिखरों के आस–पास स्थित वन सुरक्षित रखे जाते थे। उत्तराखण्ड की जनजातियों के मध्य ऐसे सामुदायिक कायदे थे जिससे किसी विशेष प्राकृतिक संसाधन की सीमा तथा उसकी अवस्था परिभाषित होती थी। इनके मध्य सृष्टि के सम्बन्ध में अनेक ऐसी धारणाएं और भ्रान्तियाँ भी थी जो आदिवासियों को प्रकृति के साथ जोड़े हुए होती थी। दैवीय अनुमति के निर्देशित कायदे कानून, समुदाय द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अतिशय दोहन पर नियंत्रण तथा प्रतिबन्ध लगाने के माध्यमों के रूप में विकसित हुए थे। इस रूप में शताब्दियों से ही उत्तराखण्ड क्षेत्र के निवासियों का कृषि जीवन, सामाजिक प्रथाएं और भौतिक संस्कृति व्यापक रूप से इस क्षेत्र की पर्यावरणीय परिस्थितियों से प्रभावित थी। ग्रामीण और जनजातीय समुदाय की आवश्यकताएं पर्यावरण की पुनरुत्पादन क्षमता के अनुपात में थी। उत्तराखण्ड हिमालय में ब्रिटिश औपनिवेशिक व्यवस्था की स्थापना के उपरान्त इस क्षेत्र के निवासियों की जीवन पद्धति और परम्परागत आर्थिक व्यवस्था व संसाधनों के शोषण के स्वरूप में ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।

Prior to the establishment of British colonial rule in Uttarakhand, the dependence of living on agriculture and animal husbandry, making of the farm land, reach of the water sources, forests and grazing areas were among the important and decisive factors for the geographical locations of the villages. Agricultural methods were adopted as per the hilly environment. During pre-British period, shift cultivation or temporary farming locally known as Kweel, Kateel was widely practiced in Central Himalayas, Higher Himalayas and Tarai regions. Forests were in the centre of village economic life, Thus importance of forests in mountain life gave birth to the natural process of preservation of forests in many forms. Many peaks here were dedicated to local deities, forests around these peaks were kept safe. There were such community rules among the local people of Uttarakhand, which defined the extent and the state of a particular natural resource. The needs of the rural and tribal communities were in proportion to the regenerative capacity of the natural resources. After the establishment of British colonial rule in the Uttarakhand Himalayas, the process of historical change started in the way of the life of the inhabitants of this region, and the nature of the exploitation of traditional economic system and resources. The economic and commercial system, formulated by the British administrators for the fulfillment of their industrial needs and for the protection of imperialist needs and protection of the imperialists interests, based on colonial thinking. More and more exploitation of natural resources in Uttarakhand region began. The natural rights of the villagers began to be limited, and naturally being a winner race, colonial interests prevailed. This process of intervention, influenced every aspect of the village life and production system of the rural peasants and tribes of Uttarakhand. From time to time rural farmers in Uttarakhand expressed dissatisfaction. Collective reaction was organized by the peasants as a protest against the realization of their traditional forest rights. The dissatisfaction the villagers was basically the result of land settlement (management), forest settlement (management) and colonial administrative and exploitative policies. Thus, due to influence of the colonial administrative and exploitative policies, various forms of production patterns were disintegrated in Uttarakhand.

मुख्य शब्द : उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, क्वील, कटील, कृषि, पशुपालन, जंगल।
Colonialism, Imperialism, Kweel, Kateel, Agriculture, Animal Husbandry, Forest.

प्रस्तावना

हिमालयी पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य में स्थित उत्तराखण्ड हिमालय का विस्तार 28°7′ से 31°4′ उत्तरी अक्षांश तथा 77°7′ से 81°1′ पूर्वी देशान्तर के मध्य है। पश्चिम में टोंस नदी से लेकर पूर्व में काली नदी तक, दक्षिण में गंगा के उपजाऊ मैदान के उत्तरी छोर में स्थित तराई–भाबर क्षेत्र से लेकर उत्तर में महा हिमालय तक विस्तृत, उत्तराखण्ड हिमालय का कुल क्षेत्रफल 53,483 वर्ग कि0मी0 है।[1] सन् 1907 में बुर्राड ने इस सम्पूर्ण क्षेत्र को कुमायूं हिमालय नाम से उद्धृत किया।[2]

उत्तराखण्ड हिमालय के अन्तर्गत पूर्व में आठ जिले थे। जिनमें से उत्तरकाशी, चमोली, टिहरी, पौड़ी तथा देहरादून, गढ़वाल मण्डल के अन्तर्गत तथा पिथौरागढ़, अल्मोड़ा एवं नैनीताल, कुमायूं मण्डल के अन्तर्गत थे। कुछ समय पहले गढ़वाल मण्डल के अन्तर्गत रूद्रप्रयाग एवं कुमायूं मण्डल के अन्तर्गत उधमसिंह नगर, चम्पावत तथा बागेश्वर नाम से कुल चार नए जिलों का सृजन उत्तराखण्ड में किया गया। नौ नवम्बर सन् 2000 को उत्तराखण्ड राज्य के अस्तित्व में आने पर हरिद्वार जनपद को भी इसमें जोड़ दिया गया। इस प्रकार वर्तमान में यहां पर कुल जिलों की संख्या तेरह (13) है। गढ़वाल तथा कुमायूं मण्डल के तेरह जिलों को सम्मिलित रूप से जनसाधारण उत्तराखण्ड नाम से जानते हैं, जो कि भौगोलिक एवं सांस्कृतिक एकता का प्रतीक भी है।

यह क्षेत्र पश्चिम में हिमाचल प्रदेश, पूर्व में नेपाल, उत्तर में चीन का तिब्बत क्षेत्र तथा दक्षिण में गंगा यमुना के मैदान से सीमांकित है। अपनी समृद्ध सांस्कृतिक परम्परा, आध्यात्मिक वैभव व अपार प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए अद्वितीय यह क्षेत्र भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से एक सम्पूर्ण व स्वतंत्र इकाई है।

भू–आकृतिक दृष्टि से उत्तराखण्ड को प्रधान हिमालय, लघु हिमालय, शिवालिक, दून, तराई और भाबर उपक्षेत्रों में विभाजित किया जा सकता है। ऊंचाई के आधार पर उत्तराखण्ड हिमलाय की तुलनात्मक ऊंचाई 7000 मी0 से भी अधिक है जो कि नेपाल हिमालय को छोड़कर विश्व के अन्य भागों की अपेक्षा सर्वाधिक है। सापेक्षिक ऊंचाई में अत्यधिक अंतर होने के कारण यहां उपोष्ण कटिबन्धीय जलवायु से लेकर टैंगा और टुण्ड्रा प्रदेशीय जलवायु की दशाएं देखने को मिलती हैं।[3]

प्रधान हिमालय के अन्तर्गत तीन सीमावर्ती जनपदों उत्तरकाशी, चमोली तथा पिथौरागढ़ का क्षेत्र आता है। यह क्षेत्र भारत व तिब्बत की अनेक नदियों का उद्गम स्थल भी है। यहां अनेक दर्रे भी हैं जो शताब्दियों से ही व्यापार, आवागमन, तीर्थ यात्रा व सामरिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण रहे हैं।[4] इस क्षेत्र में वृक्ष रेखा तथा हिमरेखा के मध्य समतल तथा मध्यम ढलुवा क्षेत्रों में छोटे–छोटे घास के मैदान हैं, जिन्हें बुग्याल, पंयार तथा अल्पाइन पाश्चर्स आदि नामों से जाना जाता है।[5] यहां पर महा हिमालय के शिखर हैं जिनकी औसत ऊंचाई 6500 मी0 से भी अधिक है। भारत का दूसरा सर्वोच्च शिखर नन्दादेवी यहीं स्थित है। इस क्षेत्र में कई ऐसे शिखर हैं जिनकी ऊंचाई 7000 मी0 से भी अधिक है।[6]

लघु हिमालयी क्षेत्र प्रधान हिमालय के दक्षिण में उसी के समानान्तर है। इस में अल्मोड़ा, चम्पावत, बागेश्वर, रूद्रप्रयाग, नैनीताल, टिहरी तथा पौड़ी जनपद सम्मिलित हैं। यहां पर्वत श्रृंखलाएं हिमालच्छादित रहती हैं किन्तु घाटियां गर्म रहती हैं।[7] वन संसाधनों, आर्थिक क्रियाकलापों तथा मानवीय गतिविधियों की दृष्टि से यह क्षेत्र सबसे महत्वपूर्ण है। वनों का सर्वाधिक विस्तार, बड़े पैमाने पर दोहन तथा इसके दुष्परिणाम पर्वतीय क्षेत्र में सबसे अधिक इसी क्षेत्र में देखने को मिलता है।

उपनिवेशवाद, आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व का एक रूप है। उपनिवेशवाद का मूल तत्व आर्थिक शोषण में निहित है। आर्थिक शोषण की प्रक्रिया में उपनिवेश पर राजनीतिक कब्जा बनाए रखना भी महत्वपूर्ण है। भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद लगभग दो सौ वर्षों तक रहा। औपनिवेशिक हितों तथा विदेशी पूंजीवाद के प्रसार के लिए यह आवश्यक हो गया था कि भारत प्रशासनिक तथा आर्थिक दृष्टि से एक ही इकाई हो ताकि अधिकाधिक शोषण किया जा सके।[8] इस दृष्टि से ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा अपने भारतीय साम्राज्य के विस्तार के क्रम में 1815 ई0 में गोरखाओं के साथ सिगौली की सन्धि के उपरान्त उत्तराखण्ड में औपनिवेशिक शासन व्यवस्था की नींव डाली गई। यह व्यवस्था स्वाधीन भारत की स्थापना तक चलती रही। औपनिवेशिक शासकों ने गढ़वाल का आधा हिस्सा टिहरी रियासत के नाम से पंवार राजवंश को सौंपा। किन्तु यहां पर भी परोक्ष रूप से शासन पर नियंत्रण ब्रिटिश सम्प्रभु का बना रहा।[9]

अध्ययन का उद्देश्य

साम्राज्यवादी हितों के संरक्षण के लिए औपनिवेशिक चिन्तन पर आधारित नीतियों के कारण उत्तराखण्ड में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों के अतिशय दोहन और ग्रामीणों के नैसर्गिक अधिकारों को सीमित करने के प्रयासों को रेखांकित करना।

विषय विस्तारः

उत्तराखण्ड की पारिस्थितिक संस्कृति

उत्तराखण्ड की भौगोलिक परिस्थितियां जीवन–यापन के लिए बहुत विकट थीं। भाबर और तराई क्षेत्र की अस्वास्थ्यकर जलवायु और घने जंगलों के कारण यहां पर जीवन–यापन आसान नहीं था। फलतः उत्तराखण्ड हिमालय की अधिकांश जनता पर्वतीय गांवों में बसी हुई थी। पर्वतीय गांवों में जहां नदियों की घाटियां अधिक चौड़ी थीं अथवा पर्वत श्रेणियों का ढाल अपेक्षाकृत कम था, ऐसे स्थानों पर कृषि के लिए खेत बनाने की सुविधा के अनुसार गांव बसे हुए थे। पर्वतवासियों की आजीविका का मुख्य स्रोत कृषि और पशुपालन था। कृषि और पशुपालन पर जीवन–यापन की निर्भरता के फलस्वरूप खेत बनाने की सुविधा, जल, जंगल और चराई क्षेत्रों तक पहुंचने की सुविधा आदि गांव की भौगोलिक स्थिति के महत्वपूर्ण निर्णायक कारकों में से थे।[10]

खेती के तरीके पहाड़ी पर्यावरण के अनुकूल थे। तीन से चार हजार फीट की ऊंचाई पर स्थित गांवों में सर्वोत्तम खेती होती थी। क्योंकि ऐसे स्थानों पर एक ओर घने जंगल और चारागाह थे तो दूसरी ओर घाटियों के

उपजाऊ क्षेत्र थे। गांव जंगल के नीचे और घाटी के खेतों के ऊपर पानी के स्रोतों के पास बसे थे। ऐसी स्थिति में सभी प्रकार की फसलें अच्छी तरह से उगाई जा सकती थी।

कृषि कार्य के लिए पशुपालन अनिवार्य था, इसलिए बड़ी संख्या में गाय, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पाले जाते थे। पर्वतीय लोग और उनके पशु प्रतिवर्ष अच्छे वनों और चराई क्षेत्रों में चले जाते थे। जहां पर वे छान या 'खरक' (अस्थायी पशुघर) बनाते थे और खरक के आसपास छोटी–छोटी बसासतों में अस्थायी खेती की जाती थी। बांज के जंगलों से चारा और खाद दोनों प्राप्त किए जाते थे। जंगल के सूखे, हरे पत्तों द्वारा और परोक्षतः वनों से प्राप्त होने वाली घास तथा हरे पत्तों के पशुओं द्वारा खाए जाने पर, वन खेती की उर्वरता को बढ़ाते थे। चौड़ी पत्ती वाले वृक्ष ग्रामीणों को ईंधन तथा कृषि उपकरण भी प्रदान करते थे।[11]

ब्रिटिश काल से पूर्व व वन बंदोबस्त के पूर्व अस्थायी खेती क्वील, कटील (शिफ्ट कल्टिवेशन) मध्य हिमालय, उच्च हिमालय व तराई क्षेत्र में व्यापक रूप से प्रचलित थी। यह नवीन कृषि भूमि तत्कालीन राजा के शासनकाल के दौरान लगान मुक्त रहती थी। इसलिए कृषकों में लगान मुक्त उत्पादन का लोभ व नई जमीन की उर्वरकता का लोभ, दोनों कारणों से यह कृषि उत्पादन व्यवस्था लोकप्रिय बनी रही। वन बंदोबस्त से पूर्व भी जंगलों में कृषि विस्तारण हेतु औपनिवेशिक प्रशासकों के द्वारा पूरा प्रोत्साहन दिया गया। नई कृषि अधिक उत्पादन व अधिक भू–राजस्व का प्रबंध करती थी। किन्तु वन वंदोबस्त के बाद अस्थायी कृषि व्यवस्था पर संरक्षित वनों में पूर्ण अंकुश लगाया गया। इससे कृषि के उत्पादन में कमी आई। विशेष रूप से असिंचित भूमि में। उर्वरकता बनाए रखने के लिए अधिक श्रम व उर्वरकों का उपयोग आवश्यक हो गया। परिणामस्वरूप ग्रामीणों पर राजस्व का बोझ बढ़ने के साथ ही प्राकृतिक उत्पादन घटा और कृषि के विस्तार का नैसर्गिक अधिकार भी समाप्त हो गया। कृषि विस्तार के अवसरों के समाप्त होने से जमीन का बंटवारा बढ़ा, भूमि की जोतें छोटी होती गई। कम जमीन, सीमित उत्पादन, गरीबी बढ़ने व भूख की समस्या के कारण ग्रामीण कृषक को खेतों को छोड़कर मजदूरी के लिए बाहर की ओर पलायन करना पड़ा। अतः 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों के बाद से ही कृषि दबावों और वाणिज्यीय अर्थव्यवस्था के दबावों के समेकित प्रभावों के फलस्वरूप मजदूरी हेतु युवकों का गांवों से पलायन उत्पादन के स्वरूपों में हो रहे परिवर्तनों के कारण तीव्रता से होने लगा था।

पर्वतीय प्रदेश के निचले अथवा कम ऊंचाई वाले क्षेत्रों में चीड़ के वन चारागाह के रूप में प्रयोग में लाए जाते थे। सूखी घास तथा पिरूल (चीड़ के पत्ते) को जलाकर नई घास के लिए उर्वरता तैयार की जाती थी जिससे पिरूल की फिसलन से भी पशु सुरक्षित रहते थे। चीड़ के वृक्ष की लकड़ी मकान बनाने के लिए इमारती लकड़ी तथा ईंधन के साथ–साथ रोशनी के लिए प्रयोग में आने वाली लकड़ी के रूप में भी काम आती थी। जिन स्थानों पर चारागाह कम थे वहां पर ग्रामीणों द्वारा पशुओं के चारे के लिए पेड़ उगाए जाते थे।[12] इसके अतिरिक्त पर्वतीय लोग वनों से फल, सब्जी, जड़ी–बूटी आदि प्रचुर मात्रा में प्राप्त करते थे, जो कि अभाव के दिनों में उनके भोज्य पदार्थों की आवश्यकता की पूर्ति करते थे।[13] इस प्रकार जंगल भिन्न–भिन्न रूपों में पर्वतीय ग्रामीण समाज की अर्थव्यवस्था की धुरी के केन्द्र में थे।

पर्वतीय कृषकों की वन संसाधनों के ऊपर निर्भरता के चलते पर्वतीय जीवन में वनों के महत्व ने अनेक रूपों में वनों के संरक्षण की एक प्राकृतिक प्रक्रिया को जन्म दिया। यहां पर अनेक शिखर स्थानीय देवताओं को समर्पित थे। इन शिखरों के आस–पास स्थित वन सुरक्षित रखे जाते थे। अनेक वन्य क्षेत्र स्वतः प्राकृतिक विकास के परिणाम नहीं थे अपितु वहां पर वृक्षारोपण और संरक्षण के चिह्न मिलते हैं।[14]

शिखरों, हिमानियों, सरोवरों, गिरिद्वारों, वांक, पयार, खाल आदि के अतिरिक्त गांव–गांव में भूम्याल, क्षेत्रपाल, सिद्ध, महासू, गोलू, लाटू आदि नामों से पृथक–पृथक स्थानीय देवता होते थे। इनको गांव का संरक्षक समझा जाता था। गांव में एक नियत स्थान पर इनके थान (मन्दिर) की स्थापना की जाती थी। इस थान के पास एक सुरई, पीपल, बैड़ अथवा देवदार का वृक्ष अवश्य होता था।[15]

पूर्वी कुमायूं में देवदार के वृक्ष सैकड़ों एकड़ भूमि में विस्तृत वनों के रूप में थे।[16] गांव के चारागाह तथा ईधन और चारे के विस्तृत वन क्षेत्रों को घेराबन्दी और अच्छी देखभाल के साथ रखा जाता था।[17] पारम्परिक रूप से अनेक गांवों में सामूहिक रूप से पेड़ लगाए जाते थे, इन्हें ग्रामीण ईधन के लिए काटते थे। गढ़वाल का चांदकोट परगना अपने गांवों की सीमा के भीतर स्थित वनों के लिए प्रसिद्ध था। इन्हें वनी कहा जाता था। इन वनों से पेड़ या टहनियां पूरे ग्रामीण समुदाय की आज्ञा से निश्चित समयावधि के बाद काटी जाती थी।[18] गांवों की सीमाओं के निर्धारण में भी सहयोग व्यक्त होता था। गांवों की सीमाएं पूर्ववर्ती शासकों द्वारा निर्धारित की गई थीं। इन्हीं सीमाओं को सन् 1823 (संवत 1880) के बन्दोबस्त में ट्रेल द्वारा स्वीकार कर लिया गया था। ग्राम सीमाओं के भीतर ग्रामवासी विभिन्न परम्परागत वनाधिकारों का प्रयोग करते थे। कुछ ऐसे भी क्षेत्र थे जहां पर अनेक गांवों को चारे और ईधन के संयुक्त अधिकार परम्परा से प्राप्त थे।[19]

उत्तराखण्ड का तराई–भाबर क्षेत्र मूल रूप से थारू और बुक्सा जनजातियों का गृह प्रदेश था।[20] यह क्षेत्र विस्तृत घने जंगलों से आच्छादित था। ये लोग ईधन, चारा, खाद्य पदार्थों, लघु वनोत्पादों तथा जड़ी–बूटियों के लिए अपने प्राकृतिक परिवेश पर ही निर्भर थे। आजीविका के लिए वनो पर निर्भरता के चलते इन लोगों ने अपने परिवेश से जुड़े हुए विभिन्न मूल्यों, आस्थाओं और सांस्कृतिक मानकों का विकास किया था। जो कि समुदाय द्वारा परिवेश के वन्य संसाधनों के उपयोग को नियंत्रित करते थे।

पूर्व में इन जनजातियों के मध्य ऐसे सामुदायिक कायदे थे जिनसे किसी विशेष प्राकृतिक संसाधन की सीमा तथा उसकी अवस्था परिभाषित होती थी। इसके बीच सृष्टि के सम्बन्ध में ऐसी धारणाएं और भ्रान्तियां भी

थीं जो कि एक आदिवासी को प्रकृति के साथ जोड़े हुए होती थी। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक जीवों तथा वनस्पति को नुकसान नहीं पहुंचाया जा सकता था। प्रकृति की अदृश्य शक्तियों में भी उनकी असीम आस्था थी जिससे उनके प्रतिदिन के क्रिया–कलाप आदिवासी समाज द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही सम्पन्न होते थे। वर्तमान समय में भी जंगलों में प्रतीक के रूप में ऐसे क्षेत्र बचे हुए हैं किन्तु इनका क्षेत्रफल अब संकुचित हो चुका है। इन क्षेत्रों को देवी–देवताओं का निवास स्थान माना जाता रहा है। पूर्व में कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के क्षेत्र में देवी–देवताओं की अनुमति के बिना प्रवेश नहीं कर सकता था। देवी–देवता का आह्वाहन किए बिना जंगल में पेड़ की टहनी तक नहीं तोड़ी जा सकती थी।

दैवीय अनुमति से निर्देशित कायदे–कानून समुदाय द्वारा प्राकृतिक संसाधनों के अतिशय दोहन पर नियंत्रण तथा प्रतिबन्ध लगाने के माध्यमों के रूप में विकसित हुए थे। समग्र समुदाय की मान्यता थी कि वे कानून देवशक्ति से उपजे है। इन कायदे–कानूनों के उल्लंघन का अर्थ था, आपदा के रूप में देवी–देवताओं के प्रकोपों को आमंत्रित करना। फलस्वरूप आदिवासियों की मान्यताएं इतनी सशक्त थीं कि ये समूह विपत्तिकाल में भी समुदाय के कायदे–कानूनों का उल्लंघन नहीं करते थे। जिससे प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक दोहन पर अंकुश लगा रहता था। उपरोक्त तथ्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि शताब्दियों से ही उत्तराखण्ड क्षेत्र के निवासियों का कृषि जीवन, सामाजिक प्रथाएं और भौतिक संस्कृति व्यापक रूप से इस क्षेत्र की पर्यावरणीय परिस्थितियों से प्रभावित थी। वन, कृषि और पशु एक दूसरे के सम्पूरक थे और आर्थिक चक्र का निर्माण करते थे। यहां के निवासियों ने अपने आधारभूत सामाजिक ढांचे के अन्तर्गत ही अपनी सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं, लोक–साहित्य व धार्मिक क्रिया–कलापों के माध्यम से प्रकृति के साथ सह अस्तित्व के सिद्धान्त पर एक सहज जीवन–पद्धति का विकास किया था। वस्तुतः ग्रामीण और जनजातीय समुदायों की आवश्यकताएं पर्यावरण की पुनरूत्पादन क्षमता के अनुपात में थी।

उत्तराखण्ड और उपनिवेशवाद

उत्तराखण्ड हिमालय में ब्रिटिश साम्राज्यवादी नई व्यवस्था के प्रणयन के उपरान्त इस क्षेत्र के निवासियों की जीवन–पद्धति और परम्परागत आर्थिक व्यवस्था व संसाधनों के शोषण के स्वरूप में ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई।[21] ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा आर्थिक, व्यावसायिक और औद्योगिक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा साम्राज्यवादी हितों के संरक्षण के लिए औपनिवेशिक चिन्तन पर आधारित नीतियां बनाई गई। इस क्षेत्र में उपलब्ध प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन प्रारम्भ हुआ और ग्रामीण जनता के नैसर्गिक अधिकारों को सीमित किया जाने लगा।[22] औपनिवेशिक शासन तथा ग्रामीणों के नैसर्गिक अधिकारों को लेकर तत्कालीन समय में गर्म बहस छिड़ी थी और स्वाभाविक रूप से विजेता जाति होने के कारण औपनिवेशिक हितों की कानूनी विजय हुई। ग्रामीणों को उनके परिवेश से जुड़े हुए हित रियायत (कृपा) के रूप में दिए गए।[23] बदलाव व हस्तक्षेप की इस प्रक्रिया ने उत्तराखण्ड के ग्रामीण कृषकों और वनों में निवास करने वाली आदिवासी जनजातियों की जीवन–पद्धति व उत्पादन तंत्र के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया। इसी काल में तराई–भाबर में भी थारू, बुक्सा जनजातियों की परम्परागत बस्तियां समाप्त होने लगीं। पश्चिमी हिमालय में वनों के दोहन से बढ़ते दबावों के कारण तराई क्षेत्रों की ओर गुज्जर जनजातियों का आव्रजन बड़ी संख्या में होना प्रारम्भ हुआ। समय–समय पर उत्तराखण्ड के किसानों ने अपने परम्परागत वन्य अधिकारों की प्राप्ति के लिए असन्तोष और सामूहिक प्रतिक्रिया विरोध के रूप में व्यक्त की। ग्रामीणों का असन्तोष मूलतः भू–प्रबन्ध, वन प्रबन्ध और औपनिवेशिक प्रशासनिक नीतियों का परिणाम था।[24]

इस क्षेत्र में पर्यावरण की अवनति का प्रारम्भ औपनिवेशिक प्रशासकों द्वारा व्यापारिक व आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से तैयार की गई भू–प्रबन्ध नीति, वन प्रबन्ध नीति, वाणिज्यीय कृषि, चाय के बाग और तराई–भाबर क्षेत्रों के औपनिवेशीकरण के फलस्वरूप हुई थी। रेलवे के लिए स्लीपरों व जहाजों के निर्माण की आवश्यकता पूर्ति हेतु उत्तराखण्ड के नैसर्गिक संसाधनों का विनाश होने लगा।

अंगरेजों को जब तराई–भाबर क्षेत्र में शीशम, साल और सागौन बहुल वनों का ज्ञान हुआ तो वे तराई–भाबर की इस सम्पदा के दोहन के लिए ललक उठे। आर्थिक लाभ के लिए इस क्षेत्र के बहुमूल्य वनों का खूब दोहन किया गया। अंगरेजों द्वारा यहां पर बाहरी लोगों को बसाकर कृषि के विस्तार की योजना बनाई गई।[25] बाहरी लोगों के इस क्षेत्र में प्रवेश से पूर्व तराई–भाबर के जंगलों में थारू और बुक्सा जनजातियों का निवास था। ब्रिटिश प्रशासक भारत को एक कृषि उपनिवेश के रूप में परिवर्तित करना चाहते थे। क्योंकि कृषि राजस्व का सबसे बड़ा स्रोत था और ब्रिटिश उद्योगों को कच्चे माल की आवश्यकता भी थी इसलिए औपनिवेशिक काल में उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशकों तक, वन विनाश की कीमत पर कृषि के विस्तार को महत्व दिया गया।[26] तराई–भाबर में गांव बसाने और वहां पर कृषि के विस्तार की पृष्ठभूमि में अंगरेजों की यही नीति काम कर रही थी।

तराई–भाबर में खाम अर्थात अस्थायी भू–व्यवस्था की गई थी। खाम व्यवस्था का उद्देश्य अधिक से अधिक गांव बसाना होने के कारण तराई–भाबर के वनों की सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया गया। फलतः बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशक तक इस क्षेत्र के अधिकांश वन बरबाद हो गए। इन सब कारणों से यहां का पारिस्थितिक तंत्र प्रभावित हुआ और इस क्षेत्र के मूल निवासियों थारू और बुक्सा जनजातियों और पशुचारक गुज्जर जनजाति की पारम्परिक जीवन–पद्धति अस्त–व्यस्त हो गई और उन्हें अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। इस प्रकार उपनिवेशवादी प्रशासनिक तंत्र के प्रभाव से उत्तराखण्ड में विभिन्न उत्पादन के स्वरूपों का विघटन हुआ। पशुचारक झूम कृषक, स्थायी कृषक, आखेटक व संग्राहक वनवासी सभी का परम्परागत आर्थिक तंत्र विघटित हुआ और नए

आर्थिक परिवेश में परिवर्तन की त्वरा अधिक गतिशील हो गई।

निष्कर्ष

उत्तराखण्ड हिमालय में जीवन यापन के लिए भौगोलिक परिस्थितियाँ बहुत विकट थी। कृषि और पशुपालन पर जीवन यापन की निर्भरता के फलस्वरूप, खेत बनाने, जल, जंगल और चराई क्षेत्रों तक पहुँचाने की सुविधा, गाँव की भौगोलिक स्थिति के लिये महत्वपूर्ण और निर्णायक कारकों में से थे। उत्तराखण्ड के निवासियों का कृषि जीवन, सामाजिक प्रथायें और भौतिक संस्कृति व्यापक रूप से इस क्षेत्र की पर्यावरणीय परिस्थितियों से प्रभावित थी। वन, कृषि और पशु एक दूसरे के सम्पूरक थे और आर्थिक चक्र का निर्माण करते थे। ग्रामीणों ने प्रकृति के साथ सह अस्तित्व के सिद्धान्त पर आधारित एक सहज जीवन पद्धति का विकास किया था। इस क्षेत्र में ब्रिटिश साम्राज्यवादी व्यवस्था के प्रणयन के उपरान्त यहाँ के निवासियों की जीवन पद्धति और परम्परागत आर्थिक तंत्र व संसाधनों के शोषण के स्वरूप में परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। अंग्रेजों द्वारा साम्राज्यवादी हितों के संरक्षण के लिए औपनिवेशिक चिन्तन पर आधारित नीतियाँ बनाई गयी। इस क्षेत्र के प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक दोहन आरम्भ हुआ और ग्रामीणों के नैसर्गिक अधिकारों को सीमित किया जाने लगा। ग्रामीणों को उनके परिवेश से जुड़े हित रियायत (कृपा) के रूप में दिये गये। हस्तक्षेप और बदलाव की इस प्रक्रिया ने उत्तराखण्ड के ग्रामीण कृषकों और वनों में निवास करने वाली जनजातियों की जीवन पद्धति व उत्पादन तंत्र के प्रत्येक पहलू को प्रभावित किया। समय–समय पर ग्रामीणों ने अपने परम्परागत वन अधिकारों की प्राप्ति के लिए असन्तोष और सामूहिक प्रतिक्रिया विरोध के रूप में व्यक्त की। ग्रामीणों का असन्तोष मूलतः भू–प्रबन्ध, वन–प्रबन्ध और औपनिवेशिक प्रशासनिक नीतियों का परिणाम था। आर्थिक लाभ के दृष्टिकोण से तैयार की गयी नीतियों के कारण उत्तराखण्ड के नैसर्गिक संसाधनों का विनाश होने लगा। फलतः बीसवीं सदी के प्रारम्भिक दशक तक यहाँ के वनों को अत्यधिक नुकसान हुआ, जिससे यहाँ का पारिस्थितिक तंत्र प्रभावित हुआ, परम्परागत आर्थिक तंत्र और उत्पादन के स्वरूपों का विघटन हुआ तथा नये आर्थिक परिवेश में परिवर्तन की गति अधिक तीव्र हो गयी।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. *रावत एम0एस0एस0 (स0)– रिसोर्स अप्रैजल, टेक्नोलाजी एप्लिकेशन एण्ड इन्वायरमेन्टल चैलेन्जेज इन सेन्ट्रल हिमालया, पृ0–06 2006, श्रीनगर गढ़वाल।*
2. *बुर्राड एस0जी0– द जियोलाजी आफ हिमालया, 1907, कलकत्ता।*
3. *कौशिक एस0डी0– क्लाइमेटिक जोन एण्ड देयर रिलेटेड सोशियो इकॉनोमी इन द गढ़वाल हिमालय, इन जनरल आफ जियोग्राफीकल रिव्यू आफ इण्डिया, XXIV, पृ0–721–41, कलकत्ता।*
4. *शेरिंग सी0ए0– वेस्टर्न तिब्बत एण्ड ब्रिटिश बार्डर लैण्ड, पृ0–140, 1906, पुमु0 1973, दिल्ली।*
5. *नेगी पी0एस0– उत्तराखण्ड हिमालय में वन विनाश कारण और उपाय, पृ0–7, 1984, टिहरी।*
6. *एटकिंसन ई0टी0– हिमालयन डिस्ट्रिक्स आफ नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्सेज, खण्ड–1, भाग–1, पृ0–177–78।*
7. *डबराल शिव प्रसाद– उत्तराखण्ड के पशुचारक, पृ0–13–14, 1978, दुगड्डा।*
8. *स्टोक्स एरिक– द पीजेन्ट एण्ड द राज, स्टडीज इन एग्रेरियन सोसाइटी एण्ड पीजेन्ट रिवेलियन इन कलोनियल इण्डिया, पृ0–24–25, 1980, कैम्ब्रिज।*
9. *सकलानी अतुल– हिस्ट्री ऑफ ए हिमालयन प्रिन्सली स्टेट, पृ0–67, 1987, दिल्ली।*
10. *वाल्टन एच0जी0– अल्मोड़ा ए गजेटियर, पृ0–47–48, ब्रिटिश गढ़वाल ए गजेटियर, पृ0–167, क्रमशः 1911 तथा 1910, इलाहाबाद।*
11. *गुहा रामचन्द्र– अनक्वाइट वुड्स, पृ0–28–29, 1889, पुमु0 1994, दिल्ली।*
12. *पौ ई0के0– गढ़वाल सेटलमेन्ट रिपोर्ट, पृ0–23, 47, 1996, इलाहाबाद।*
13. *वाल्टन एच0जी0– अल्मोड़ा ए गजेटियर, पृ0–59।*
14. *पन्त गोविन्द बल्लभ– फॉरेस्ट प्रॉबलम्स आफ कुमायूं, पृ0–30–31, 1922, इलाहाबाद।*
15. *डबराल शिव प्रसाद– पूर्वोक्त, भाग–7, पृ0–376।*
16. *भाटिया एस0बी0– वर्किंग प्लान फार दि ईस्ट अल्मोड़ा डिवीजन, 1924–25 से 1933–34, पृ0–13–22, 1926, इलाहाबाद।*
17. *पियर्सन जे0के0– नोट आन हिस्ट्री आफ प्रपोजल्स फार मैनेजमेन्ट आफ विलेज वेस्ट लैण्ड, दिसम्बर–1926, वन विभाग फाइल नं0–83, 1909, उ0प्र0रा0अ0, लखनऊ।*
18. *फाइल नं0–83, 1909, स्टोवेल तथा धर्मानन्द जोशी की टिप्पणी, उ0प्र0रा0अ0, लखनऊ।*
19. *गैरोला टी0डी0– सलेक्टेड रेवन्यू डिवीजन्स आफ कुमायूं, पृ0–209, 1938, इलाहाबाद।*
20. *एटकिंसन ई0टी0– पूर्वोक्त, खण्ड–2, भाग–1, पृ0–371–72।*
21. *ऐरिक स्टोक्स ने मार्क्स को उद्धृत करते हुए लिखा कि भारतीय समाज में औपनिवेशिक शासकों से पूर्व की विजयें सिर्फ राजनीतिक परिवर्तनों तक ही सीमित थीं। किन्तु इंग्लैण्ड ने अपने आर्थिक हितों के लिए भारत के घरेलू व ग्रामीण सामाजिक–आर्थिक ढांचे के हृदय पर चोट की और सही मायने में यह ऐसी सामाजिक क्रान्ति थी जिसको एशिया में पहले कभी देखा नहीं गया था। इसने कृषि और उद्योग की एकता को समाप्त कर दिया था।*
22. *माइन्यूट वाई0डब्ल्यू0 राबिन्सन, 3 फरवरी, 1876, उ0प्र0रा0अ0, लखनऊ।*
23. *अमेरी सी0एफ0– आन फारेस्ट राइट इन इण्डिया, पृ0–10–27, ब्राण्डिश डी0 तथा स्माइथीज ए0 (स0), रिपोर्ट आफ दि प्रोसीडिंग्स आफ दि फारेस्ट कन्जरवेशन हेल्ड एट शिमला, 1875।*
24. *जी0ए0डी0 फाइल 398/1913, डी0एफ0ओ0 गढ़वाल कन्जरवेटर कुमायूं को पत्र, 6 फर0, 1917, उ0प्र0रा0अ0, लखनऊ।*
25. *होम डिपार्टमेन्ट (पब्लिक) तराई परगना, रिपोर्ट आन दि एडमिनिस्ट्रेशन आफ परगना, 1858–59, 1861–62, रा0अ0, नई दिल्ली।*
26. *स्माइथीज ई0ए0– इण्डियाज फारेस्ट वेल्थ, पृ0–6, 1925, लन्दन।*